

मुर्दहिया : VI

डॉ. तुलसी राम

भविष्य में दार्शनिक उद्गान के हिसाब से नौवीं कक्षा की पढ़ाई एक नया मोड़ बन कर आयी। अनेक अध्यापक अनेक गुण। प्रिन्सिपल धर्मदेव मिश्र आजमगढ़ के वीर रस के प्रसिद्ध कवि श्याम नारायण पांडे के गांव डुमराव के रहने वाले थे। स्मरण रहे कि वीर रस में लिखी गयी 'हल्दीघाटी' नामक रचना के चलते श्याम नारायण पांडे को काफी प्रसिद्धि मिली थी। 'हल्दीघाटी' की ये पंक्तियां आज भी लाखों लोगों की जबान पर थिरकती रहती हैं :

रण बीच चौकड़ी भर भर
'चेतक' बन गया निराला था।
राणा प्रताप के घोड़े से,
पड़ गया हवा का पाला था।।

धर्मदेव मिश्र स्वयं कवि थे। कवि होने के नाते उन्होंने अपना उपनाम 'कमलेश' रख रखा था। हमारी कक्षा में उनका कोई निर्धारित कोर्स नहीं था। किन्तु कभी कभी यूँ ही वे कक्षा में आकर हिन्दी साहित्य से सम्बंधित किसी भी विषय पर बहस करने लगते थे। उनकी ऐसी कक्षाएं अत्यंत रोचक हुआ करती थीं। एक दिन उन्होंने बताया कि कैसे हिन्दी भाषी लोगों को छोटा 'स' तथा बड़ा 'श' के बीच लिखते या बोलते समय फर्क करना नहीं आता। उदाहरण के लिए उन्होंने गाकर एक जुमला सुनाया :

शाई के शरपतवा में शांप बोलेला,
शाई मारै शिटकुनिया शे शपशपाशप

यह जुमला सुनते ही कक्षा में ठहाका गूंज उठा। परिणामस्वरूप खाली समय में बच्चे हमेशा इसी जुमले को प्रिन्सिपल साहब के लहजे में गाते रहते थे। प्रिन्सिपल साहब की एक अन्य रोचक आदत थी : जाड़े के दिनों में कागज की पूंछ बना कर सूरज की तरफ आसमान में देखते हुए वे अपनी नाक में डाल डाल कर चलते हुए बार बार छींका करते थे। इसका भी असर यह हुआ कि स्कूल के अधिकतर छात्र लेजर के समय मैदान में जाकर उन्हीं की तरह नाक में कागज डाल कर छींकने लगे थे। कमलेश जी भक्ति साहित्य में 'कृष्णाश्रयी' शाखा के बड़े प्रशंसक एवं अनुयायी थे।

गोपियों द्वारा यमुना में नहान तथा कृष्ण द्वारा उनके कपड़ों की चोरी कर पेड़ पर चढ़ जाने वाले दृश्य को वे इतना रोचक बना देते थे कि हर छात्र किसी न किसी गोपी के वस्त्र चुराने की कल्पना में मशगूल हो जाता था। इस संदर्भ में स्कूल से सटा हुआ पोखरा काल्पनिक यमुना में तब्दील हो जाता था। इसी बीच स्कूल के पास वाले मंदिर में एक विचित्र साधु आये। वे औरतों की तरह बड़े बड़े बाल बढ़ाये हुए थे। किन्तु दाढ़ी मूँछ सफाचट थी। वे आभूषणों से लदे हुए थे। पैरों में पायल, हाथों में बड़े बड़े गुजहे, कमर में चांदी की करधनी, गले में मंगलसूत्र, कानों में तर्कियां, नाक में नथुनी

आदि वे पहने हुए थे। उनकी मांग में सिन्दूर भी था। किन्तु परिधान के नाम पर आधुनिक बिकनी की तरह उनकी लंगोटी ने उन्हें आकर्षण का केन्द्र बना दिया था। हम सब मंदिर जाकर उन्हें देर तक घूर घूर कर देखते रहते। जब भी वे मंदिर से निकल कर पोखरे में नहाने जाते, लड़कों का हुजूम उनके पीछे हो जाता। एक युवती की तरह उनकी चाल, आंखों की भावभंगिमा तथा हाथों के इशारे अप्राकृतिक होने के बावजूद बड़े लुभावने लगते थे। प्रिन्सिपल साहब हमारी कक्षा में आकर बताये कि उक्त साधु बाबा कृष्णाश्रयी शाखा के भक्तों में 'सखी' सम्प्रदाय से सम्बंधित थे। उन्होंने यह भी बताया कि 'सखी' सम्प्रदाय वाले लोग अपने को कृष्ण की पत्नी के रूप में जीवन भर अभिनीत करते रहते हैं। ये साधु बाबा उस मंदिर में एक महीने तक रहे, किन्तु जाने के बाद उनकी स्त्रीलिंग वाली लुभावनी बोली सबको उदास छोड़ गयी। ये कुछ ऐसी घटनाएं थीं जिनके चलते साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र के प्रति मेरी रुझान का सूत्रपात हुआ। हमें हिन्दी पढ़ाने वाले एक अध्यापक पारस नाथ पांडे थे, जो राहुल सांकृत्यायन के गांव कनैला के रहने वाले थे। वे कक्षा में अक्सर बताते थे कि राहुल सांकृत्यायन बचपन में ही घर से भाग गये थे तथा कम्युनिस्ट बन कर रूस में रहते हैं। उनका यह भी कहना था कि राहुल गोमांस खाते हैं तथा हिन्दू धर्म के विरोधी हैं। वे राहुल जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' का नाम लेकर कहते कि इसके अलावा उन्होंने सैकड़ों किताबें लिखी हैं। राहुल सांकृत्यायन के बारे में यह सब सुन कर मेरे मन में उत्कंठा जगती कि मैं भी उनके जैसा होता तो कितना अच्छा होता? 'वोल्गा से गंगा' में क्या है, इसके बारे में पारस नाथ पांडे कुछ भी नहीं बताते, किन्तु बार बार कहते रहते थे कि यह पुस्तक सारे विश्व में जानी जाती है। इन सब बातों के अलावा पांडे जी की राहुल के बारे में कोई अन्य जानकारी नहीं थी। किन्तु राहुल जी का बचपन में घर से भागना, कम्युनिस्ट के रूप में रूस में रहना, गोमांस खाना, हिन्दू धर्म का विरोधी होना तथा 'वोल्गा से गंगा' की रचना आदि ऐसी जानकारियां थीं, जिनके चलते मेरे अंदर राहुल सांकृत्यायन के प्रति एक अजीब आकर्षण उत्पन्न हो गया। 'वोल्गा से गंगा' पढ़ने की इच्छा दिन प्रतिदिन बलवती होती चली गयी। इसकी अनुपलब्धता ने अपने आकर्षण को और भी तेज कर दिया था। इस दौरान सबसे ज्यादा प्रभावशाली एवं दूरगामी सिद्ध हुआ अंग्रेजी का एक पाठ, जिसका शीर्षक था— 'गौतम बुद्ध'। यह पाठ नौवीं कक्षा की अंग्रेजी विषय की पुस्तक 'फाइटर्स आफ फ्रीडम' (स्वाधीनता के सेनानी) का हिस्सा था। इस पुस्तक में गौतम बुद्ध के अलावा अब्राहम लिंकन, गांधी, नेहरू आदि 6 महापुरुषों का चरित्र चित्रण था। इस पाठ्यक्रम को पढ़ाने वाले अध्यापक थे सूर्यभान सिंह। वे अत्यंत गम्भीर तथा विनम्र स्वभाव वाले अध्यापक हुआ करते थे। अंग्रेजी पढ़ाते समय वे पहले एक एक शब्द का हिन्दी में अर्थ बताते तथा बाद में पूरे वाक्य का अनुवाद। उनके द्वारा इस पद्धति से पढ़ाया गया हर पाठ मेरे दिमाग में एकदम चिपक सा जाता था। गौतम बुद्ध वाले पाठ में वही थी पुरानी कहानी। एक राजा थे सुद्धोधन। उनकी रानी महामाया राजधानी कपिलवस्तु से अपने मायके जा रही थीं। रास्ते में प्रसव पीड़ा हुई। परिणामस्वरूप लुम्बिनी के जंगल में एक पेड़ के नीचे एक शिशु का जन्म हुआ। रानी शिशु के साथ कपिलवस्तु लौट आयीं। यही शिशु सिद्धार्थ कहलाया। सिद्धार्थ बचपन से ही एकांतवासी निकले। बड़े होने पर एक दिन रथ पर सवार हो अपने सारथी के साथ घूमने निकले। इस दौरान उन्होंने एक जर्जर बूढ़े, एक गम्भीर रूप से बीमार तथा एक मृत व्यक्ति को देखा। सिद्धार्थ को प्रश्न के उत्तर में सारथी से जवाब मिला कि हर व्यक्ति की यही गति होती है। इसके बाद सिद्धार्थ को वैराग्य हुआ और वे सच्चे ज्ञान की तलाश में एक दिन रात के समय घोड़े पर चढ़ कर महल से भाग निकले। राज्य की सीमा पर जाकर उन्होंने अपनी तलवार से अपने सिर के बालों को काट दिया तथा राजसी परिधान फेंक कर भिखारी के रूप में निकल पड़े। अंततोगत्वा बोध गया में उन्हें एक पीपल के पेड़ के नीचे विकट विपस्सना के बाद ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के बाद उन्होंने सारनाथ में अपना पहला उपदेश दिया, जिसके बाद वे गौतम बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके ज्ञान का मुख्य निचोड़ था दुनिया में दुख है, दुख का कारण

। है, दुख का निवारण है तथा दुख निवारण का मार्ग है। यही चार आर्य सत्य कहलाये। दुख निवारण । के मार्ग के रूप में उन्होंने प्रज्ञा, शील तथा समाधि से जुड़े अष्टांगिक मार्ग सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्म, सम्यक जीविका, सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति तथा सम्यक समाधि का प्रचार किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अपने सभी कर्मों में अतियों से विलग गौतम बुद्ध ने मध्यम मार्ग पर चलने की सलाह दी। यही था उनका महाज्ञान।

इस छोटे से पाठ ने मेरे मस्तिष्क में एक चलता फिरता चलचित्र सा छाप दिया था। हरदम घुड़सवार बुद्ध मेरी कल्पना से गुजरते रहे। मैं प्रायः अपने गांव के बूढ़ों, बीमारों तथा कभी कभी अपनी मुर्दहिया पर जाने वाले मुर्दों को घूर घूर देखता और वैरागी होकर घर से भागने की कल्पना में डूब जाता। यह कल्पना दिन प्रतिदिन बलवती इसलिए भी होती गयी, क्योंकि मैं नौवीं कक्षा में पढ़ रहा था तथा दसवीं के बाद पढ़ाई हमेशा के लिए छूट जाने वाली थी। हमारे उस पूरे इलाके में दूर दूर तक कोई इण्टर कालेज नहीं था। ऊपर से घर वाले पढ़ाई छुड़ाने पर एकदम नहट गये थे। इस संकट से उबरने का मेरे सामने कोई अन्य मार्ग नहीं था। हाई स्कूल के आगे ज्ञान की तलाश मुझे भी थी, इसलिए गौतम बुद्ध अत्यधिक प्रिय लगने लगे। निकट भविष्य में मेरा घर से भागना निश्चित हो गया। किन्तु हाई स्कूल की पढ़ाई पहाड़ सी लगने लगी। एक एक दिन सालों जैसा लगने लगा। बस एक ही धुन हरदम सवार थी कि हाई स्कूल समाप्त हो और मैं बुद्ध की तरह घर से भाग जाऊं। इस प्रक्रिया में मैं भी एकांतवासी होने लगा। मुर्दहिया इससे पहले कभी भी इतनी आकर्षक नहीं लगती थी जितना कि अब। मुर्दहिया से लगे गिद्धों वाले बड़े पीपल के पेड़ की जड़ पर मैं अक्सर बैठ कर घुटने पर केंहुनी टिकाये हुए हाथ पर मुंह रख कर एक चिन्तनशील तस्वीर में बदल जाता और एक अनियत भविष्य की कल्पना में सो जाता। इस दौरान उस पीपल की ऊंची पुतलुकिया डालों पर बैठे गिद्धों की दूधनुमा सफेद विष्टा फचफचा कर मेरे सिर पर गिरती, जिससे तंद्रा भंग होते ही सारे विचार भी भंग हो जाते और मैं प्रायः पलाश के पत्तों से सिर को पोछता हुआ पत्तू मिसिर के पोखरे की तरफ भागता। मुर्दहिया पर चरवाहों के बीच अब न तो वह पुरानी लक्कड़ध्वनि पसंद आती और न ही उस पर नटीनिया का नाच। मेरे वैरागी होने की कल्पना से गांव के सहपाठी चिखुरी हमेशा अपनी सहमति जताते। चरवाही के दौरान हम दोनों किसी के खेत से पकी पकी धान की बालियां पांग कर लाते और गमछा बिछा कर उन्हें लाठी के हरे से मूसल की तरह कूच कूच कर चावल बना देते। इस थोड़े से चावल को हम मुर्दहिया पर आग जला कर छोटी सी मिट्टी की भरुकी में पकाते तथा वहीं किसी की बकरी को दुह कर पलाश के पत्ते के दोने में दूध निकालते। बकरी के इस कच्चे दूध में सिंधोर की पत्ती के तोड़ने से निकलते द्रव की एक दो बूंद को मिला दिया जाता, जिससे तत्काल दही जम जाती थी। भरुकी में ही मटर की दाल पकायी जाती, जिसमें पलाश का पत्ता डाल देने से वह तुरंत गल जाती थी। इस तरह के वनविहार से मैं प्रायः अपने सम्भावित वैरागी जीवन का अभ्यास करता। जोन्हरी के खेतों में पड़े मचान पर अकेले सोते हुए रात में सियारों को जोर जोर से चिल्लाते हुए 'लुहा लुहा' कह कर भगाना भी मुझे बहुत अच्छा लगता था। यह बात और थी कि जोन्हरी के खेत सुदेस्सर पांडे के होते थे। उन दिनों बड़ी संख्या में सियार जोन्हरी की अधकची बालियों को खा जाते थे। अतः गांव वाले सियारों से बहुत चिढ़ते थे। इस चिढ़ के कारण सियार देखते ही लोग उन्हें दूर दूर तक दौड़ा लेते थे। उन दिनों सन् 1963 के जाड़ों के दिन थे। हमारे घर एक पुराना बूढ़ा बैल था, जो अब हरवाही के काम नहीं आता था। वह जब भी जमीन पर बैठता तो उठ नहीं पाता था। उसे चारा देने के लिए उठाने के लिए दो व्यक्ति उसके पेट के नीचे बांस की काड़ी डाल कर ऊपर की तरफ टांनते तब जाकर वह उठ पाता था। इस बैल को घर वाले 'बुढ़ऊ दादा' कहते थे। अंततोगत्वा एक दिन 'बुढ़ऊ दादा' चारों पैर फैला कर जमीन पर ऐसे पड़ गये कि बांस की काड़ी से ओठधन देने के बावजूद उठ नहीं पाये। उनके मुंह से झाग निकल रहा था। चौधरानी चाची तथा मेरी मां समेत घर की कई महिलाएं बुढ़ऊ दादा को घर

कर घूरने लगीं। 'बुढ़ऊ दादा' के चारों पैर एकदम तनेन हो गये। जाहिर है कि अब वे इस दुनिया से जा चुके थे। मुर्दहिया पर कर्मकांडस्वरूप मुन्नर चाचा ने एक बार फिर मेरी सहायता से चमड़ा छुड़ाया। बाकी के काम में गिद्धों ने अपनी महारत दिखानी शुरू कर दी। इस बार मुन्नर चाचा ने मुझसे कहा कि डांगर के पास सियारों को नहीं आने देना, क्योंकि वे बुरी तरह नोच नोच कर मांस खाते हैं।। बुढ़ऊ दादा जैसे पुराने बैल के प्रति हमारे घर वालों की यह अजीब संवेदनशीलता थी। अतः मेरे साथ गांव के कुछ अन्य चरवाहे शाम तक सियारों को खदेड़ खदेड़ कर भगाते रहे। धीरे धीरे गिद्धों ने बुढ़ऊ दादा के मांसपिंड को कंकाल में बदल दिया। कल्पना में मैं इस कंकाल पर बार बार मांस चर्म चढ़ा कर बुढ़ऊ दादा को जिन्दा कर बांस की काड़ी से ओठघन देकर खड़ा करने की कोशिश करता। अपनी इस कल्पना की नाकामी से मैं बार बार निराश हो जाता था। अंततोगत्वा चौधरानी चाची के कथनानुसार मैं बुढ़ऊ दादा के कंकाल से दो बड़ी बड़ी तलवारनुमा पसलियां लेकर घर आया। ये पसलियां नये सिरे से ब्राह्मणों से सम्भावित लड़ाई में दलितों की सुरक्षा की गारण्टी थीं।

नौवीं कक्षा की पढ़ाई समाप्त होते होते मेरे जीवन की भावी दिशा भी निर्धारित हो चुकी थी। दर्शन से सम्बंधित कोई भी सामग्री मुझे बहुत प्रभावित करने लगी थी। इस दौरान 14 अप्रैल 1963 को चिरैयाकोट थाने से सूचना आयी कि प्रख्यात विद्वान महापंडित राहुल सांकृत्यायन का निधन हो गया है, इसलिए दोपहर बाद स्कूल में छुट्टी रहेगी। उनकी मृत्यु की खबर से हमारे स्कूल में मातम छा गया था। सारे बच्चे राहुल के बारे में अधिक से अधिक सुनना चाहते थे। किन्तु अफसोस यह था कि पारस नाथ पांडे द्वारा दी गयी उन पुरानी जानकारियों के अलावा नया कुछ भी नहीं था। उस दिन हम बड़े दुखित मन से घर आये थे। इसके तुरंत बाद नौवीं कक्षा के इम्तहान हुए और हम दसवीं में चले गये। साथ ही मई जून में गर्मी की छुट्टियां हो गयीं। पिता जी ने छुट्टियों में मजदूरी करने के लिए मुझे विवश कर दिया था। अतः अधिकतर समय में गन्ने की सिंचाई के लिए सुदेस्सर पांडे का रहट हांकता रहा। इन छुट्टियों के दौरान मेरे स्कूल के दो अध्यापकों ने मुझे एक विचित्र कार्य सौंपा था जिसके लिए मुझे काफी खतरा मोल लेना पड़ा था। ये दोनों अध्यापक क्षत्रिय तथा कम उम्र के थे। इन दोनों अध्यापकों से हमारी कक्षा की एक क्षत्रिय छात्रा का बेहद लगाव हो गया था। इस छात्रा का स्कूल से करीब सात किलोमीटर दूर गांव था। ये दोनों अध्यापक मुझमें बेहद विश्वास रखते थे। अतः उस छुट्टी के दौरान वे संयुक्त रूप से चिट्ठी लिख कर मुझे देते जिसे लेकर मैं उस छात्रा के गांव जाया करता था। उसके गांव के पास भी एक पोखरा था, जिसके किनारे एक भीटा पर एक कमरे का शिवलिंग वाला मंदिर था। उसमें कोई पुजारी नहीं होता था। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार उसी मंदिर पर चिट्ठी सौंपना होता था। मैं इन दोनों अध्यापकों द्वारा लिखित चिट्ठी को पलास के एक बड़े पत्ते का लिफाफा बना कर उसके अंदर रख कर बबूल के बड़े बड़े कांटों से सिल देता था। उन दिनों प्रायः लोग पलास के पत्ते में फूल लपेट कर मंदिरों में पूजा के लिए जाया करते थे। इसलिए मैं भी चिट्ठी की पहचान मिटा देने के हिसाब से पलास के पत्ते के दोने में उसे पूजा के फूलों की शकल दे देता था। पोखरे के पास गन्ने के खेत थे। मैं उन्हीं गन्ने की फसलों के बीच छिपा रहता था। इस बीच पोखरे के मंदिर के पास उस छात्रा को आते देख मैं जल्दी से उस दोने को वहीं फेंक कर पुनः गन्ने के खेत में आ जाता था तथा उस छात्रा द्वारा जवाब में लिखी गयी चिट्ठी को वापस लेकर उन अध्यापकों को सौंप देता था। इस तरह मैंने तीन चिट्ठियों का आदान प्रदान उस छुट्टी में सफलतापूर्वक किया था। इस प्रयास में मैं भयंकर रूप से डरा हुआ रहता था, क्योंकि वह छात्रा एक बड़े जमींदार की बेटी थी। अंततः इस त्रिकोणीय कथा का प्रतिफल कुछ भी नहीं निकल सका। दसवीं कक्षा के मध्य में ही उस छात्रा का कहीं अन्यत्र विवाह हो गया।

यह छुट्टी एक अन्य घटना के कारण भी मेरे लिए यादगार बन गयी थी। हमारे ओझा सोखा (तांत्रिक) रिश्तेदारों के गांव मंगरपुर के एक बड़े जमींदार के बेटे लालबहादुर सिंह थे। लालबहादुर सिंह

भी हाई स्कूल के छात्र थे, किन्तु उनका स्कूल हमारे स्कूल से बहुत दूर था। रिश्तेदारों के यहां आते जाते लालबहादुर सिंह से मेरी दोस्ती हो गयी। लालबहादुर सिंह के घर में घोड़ा पाला जाता था जो उनका एकका खींचता था। उनके घर वाले जहां कहीं भी जाते, वे अपने एकके का इस्तेमाल करते थे। एक दिन लालबहादुर सिंह अपना एकका हांकते हुए हमारे घर आ गये और मुझे लेकर चिरैयाकोट चले गये। लालबहादुर सिंह कम उम्र में ही भयंकर शराबी बन गये थे। अतः उन्होंने चिरैयाकोट थाने के पास स्थिति देशी शराब के टेके से एक बोतल शराब खरीदी। उन्होंने एक मीट की दुकान से एक किलो मीट भी खरीदा। वहीं चिरैयाकोट मोड़ पर सड़क के किनारे अहरा लगा कर एक मिट्टी के घड़े में खड़े मसाले वाला मीट पकाना शुरू कर दिया। एक अन्य हड़िया में चावल पकाया गया। लालबहादुर सिंह ने उस दिन मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे एक तरह से जबरन शराब पिलायी। पहला घूंट आज भी याद है। उसकी कड़वाहट से सुनसुनी चढ़ गयी थी, किन्तु थोड़ी देर बाद जब नशा चढ़ना शुरू कर दिया, तो स्वेच्छा से पीने की रफ्तार बढ़ गयी। हम दोनों मीट चावल के साथ पूरी बोतल खाली करके सड़क के किनारे जमीन पर लेट गये। कुछ होश हवाश नहीं था। पास में एकके में बंधा उनका घोड़ा जब तब हिनहिनाता रहा। भयंकर नशे की हालत में उस घोड़े की उपस्थिति सोच कर मुझे बड़ी राहत मिलती थी कि जैसे जैसे घर वापस पहुंच ही जाऊंगा। शराब पीने के इस पहले ही अवसर ने मुझे नशे में एकदम चकनाचूर कर दिया था, किन्तु बार बार सोचने पर मजबूर हो जाता था कि जब घर वाले इस हालत में मुझे देखेंगे, तो मैं क्या जवाब दूंगा। उठ कर हम दोनों कुछ कदम चलने का अभ्यास करते, किन्तु भहरा कर एक दूसरे के ऊपर गिर पड़ते। इस बीच आजमगढ़ से गाजीपुर जाने वाली यूपी. रोडवेज की सात बजे शाम वाली बस भोंपू बजाते हुए हमारे बगल से गुजर गयी। उसकी तेज हेडलाइट से हमारी आंखें चौंधिया गयी थीं। हमारे पास कोई घड़ी तो नहीं थी, किन्तु इस बस के चिरैयाकोट से रोज सात बजे गुजरने वाली घोषित समय सारिणी से मैं यह सोच कर अत्यंत चिन्तित होने लगा था कि अपने गांव पहुंचते पहुंचते काफी रात हो जायेगी। मैं बार बार लालबहादुर सिंह से गांव चलने को कहता, तो वे हर बार अपने गांव ले जाने की जिद करने लगते थे। हम दोनों अपनी अपनी जिद पर काफी देर तक अड़े रहे। अंततोगत्वा उस घोर नशे की हालत में लालबहादुर सिंह की सामंती पृष्ठभूमि जाग उठी और वे काफी देर तक शब्दों में ही मेरी मां बहन का इस्तेमाल करते रहे। उनके इस व्यवहार से आतंकित होकर मैं एकदम अवाक रह गया था। मैं बिना कुछ बोले लड़खड़ाते हुए वहां से सात किलोमीटर दूर स्थित अपने गांव की तरफ चल पड़ा। अभी मुश्किल से मैं पचास कदम चला था कि पीछे से तेजी से आकर लालबहादुर सिंह मेरी दोनों टांगों को पकड़ कर बैठ गये और गिड़गिड़ाते हुए माफ़ी मांगने लगे। उनके मुंह से बार बार निकलता : “हम तोहके केतना गरिअउली हं।” हम दोनों वापस एकके के पास आ गये और लालबहादुर सिंह घोड़े को चाबुक से बार बार प्रहार करते हुए मेरे गांव की तरफ चल पड़े। अंधेरी रात में घोड़ा बार बार बिदक कर सड़क पर नहट जाता था। इस प्रक्रिया में उस घोड़े पर सैकड़ों चाबुक पड़े थे। हम बड़ी मुश्किल से देर रात सोता पड़ने पर अपने गांव पहुंचे। लालबहादुर सिंह को देख कर रात में किसी ने कुछ नहीं कहा। एक बैल वाली हौदी में मैंने चारा पानी डाल दिया तथा घोड़े को खूटे से बांध कर हम दोनों घर के सामने वाले कुएं की जगत पर सो गये। सबेरा होने पर लालबहादुर सिंह अपना एकका हांकते हुए मंगरपुर लौट गये। दूसरे दिन उनके जाने के बाद एक बार फिर मेरा सामना नग्न चाचा की गालियों की बीछार से हुआ। शराब पीने की इस घटना से घर वालों के इस तर्क को बड़ा बल मिला कि अब मैं एक छटा हुआ आवारा लफंगा बन गया हूं। मेरी पढ़ाई छोड़ देने की मुहिम को एक नया बल मिल गया। शराब पीने वाली बात पूरे गांव में तेजी से फैल गयी। गांव के ब्राह्मण हमारे घर वालों से कहते कि ज्यादा पढ़ने से लोग पागल हो जाते हैं, इसलिए बच्चों को ज्यादा नहीं पढ़ाना चाहिए। ब्राह्मणों की इस सलाह से घर वाले शत प्रतिशत सहमत हो जाते थे। ब्राह्मण यह उदाहरण देते कि बभनौटी का कोई लड़का हाई स्कूल के आगे नहीं पढ़ता। हकीकत यह

थी कि बभनौटी का कोई बच्चा उस समय तक हाई स्कूल पास नहीं कर पाया था। क्योंकि वे फेल होकर पढ़ाई छोड़ देते थे। ज्यादा पढ़ने से पागल होने की अवधारणा को ब्राह्मणों ने इतना प्रचारित कर दिया था कि हमारी दलित बस्ती में सनसनी फैल गयी थी। सबसे बड़ी समस्या मेरे पिता जी की थी। घोर अंधविश्वासी तथा धार्मिक होने के कारण वे ब्राह्मणों की हर बात को एकदम सही मान लेते थे। ब्राह्मण यह तर्क देते कि शराब पीना पागलपन की ही निशानी है। उनकी इस बात से पिता जी बिल्कुल आश्वस्त हो जाते थे। एक बार तो ऐसा लगा कि नौवीं कक्षा के आगे नहीं पढ़ पाऊंगा। मैं बार बार पश्चाताप करता कि लालबहादुर सिंह के साथ क्यों चला गया? लालबहादुर सिंह के लिए पिता जी कहते कि वे तो बड़े ठाकुर के बेटे हैं उनसे बराबरी करके चमार का लड़का कहां जायेगा? इस संदर्भ में पिता जी एक लोकोक्ति का सहारा लेते हुए कहते : “घोड़वा के देखि के मेढकिया नाल मराई, त का ऊ जिन्दा रही।” पढ़ाई छूट जाने की आशंका से आतंकित होकर मैं मन ही मन बार बार कसम खाता कि अब भविष्य में कभी शराब नहीं पीऊंगा। यह सब सोच ही रहा था कि पिता जी ने खीझ कर सुदेस्सर पांडे के खलिहान में मुझे ‘दंवरी’ के काम में लगा दिया। दो बैलों को जुआटे में नाध कर जौ तथा गेहूं आदि के बाली समेत डंठलों को कुचलने के लिए गोलाई में हांका जाता था, जिसे ‘दंवरी’ कहते थे। दंवरी के द्वारा ये डंठल भूसा बन जाते थे जिससे ओसा कर अनाज को अलग कर लिया जाता था। दंवरी करते समय बैलों के मुंह को जाबी यानि रस्सी से बनी जाली से बांध दिया जाता था, ताकि वे जौ गेहूं खा न सकें। दंवरी एक बड़ा ऊबाऊ काम होता था जिसमें बैलों को दिन भर हांकना पड़ता था। गर्मी की छुट्टियां बीतने वाली थीं तथा जुलाई 1963 से कक्षा दस की पढ़ाई शुरू होने वाली थी किन्तु मेरा भविष्य एकदम अनिश्चित हो गया था। घर वाले सर्वसम्मति से पढ़ाई छोड़ने का प्रस्ताव पारित कर चुके थे। मेरे सामने यह एक बड़ा गम्भीर संकट था। मुझे दुखित देख कर मेरी मां फूट फूट कर रोने लगती थी, किन्तु वह भी बेबस थी। वह कुछ कर सकने की स्थिति में नहीं थी। आखिरकार जुलाई आ ही गयी। घर वालों के विरोध के बावजूद मैं सुबह बिना कुछ खाये खाली पेट स्कूल जाने लगा। घर पर सामूहिक संयुक्त पारिवारिक जीवन में व्यक्तिगत रूप से भोजन की व्यवस्था मेरे लिए असम्भव थी। बाद में ऊब कर मेरी मां रात के अपने खाने में से आधा बचा कर ताखा में रख देती थी जिसे न चाहते हुए भी मैं खाकर स्कूल जाता था। मां के इस त्याग से द्रवित होकर सुबह खाते हुए मैं अक्सर रो पड़ता था। दसवीं कक्षा में मैं अत्यधिक दुखित रहने लगा। घर का वातावरण एकदम दूषित हो चुका था। मुझे प्रायः गालियों के सम्बोधन से पुकारा जाता। स्कूल से शाम को घर आते ही पशुओं को चारा पानी देने का काम मुझे सौंप दिया जाता था। रात में सबसे बड़ा संकट यह था कि चिराग न होने से मैं कुछ भी पढ़ नहीं पाता था। पहले एक ढिबरी जला कर पढ़ा करता था, किन्तु दसवीं कक्षा में उसे जलाने के लिए मिट्टी का तेल मिलना बंद हो गया। घर में एक लालटेन जरूर थी, किन्तु घर वाले इसका इस्तेमाल बहुउद्देशीय कार्यों के लिए किया करते थे। अतः रात में न पढ़ पाना मुझे सबसे ज्यादा खलता था।

उधर स्कूल में हर्ष विषाद का मिश्रित वातावरण तैयार हो चुका था। मेरे अधिकांश अध्यापक बहुत सम्मान के साथ पेश आते थे, किन्तु कुछ सवर्ण छात्र मुझसे बहुत नफरत करने लगे थे। ऐसे छात्रों में से एक थे अम्बिका सिंह। प्रवृत्ति से वे हिंसक नहीं थे किन्तु वे हमेशा शराफत से बात करते थे। उनकी मूल शिकायत यह थी कि कक्षा में अध्यापकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का जवाब मैं ही क्यों सबसे पहले दे देता हूँ? इनका तक्रियाकलाम था : ‘तू काहे के बड़ा तेज बनै ला।’ इस तरह के आक्षेपों से मैं कक्षा में कुछ बोलने से हिचक जाता था। चूंकि हमारे स्कूल के संस्थापक बाबा हरिहर दास क्षत्रिय थे, इसलिए वहां इस समुदाय का बोलबाला था। अधिसंख्य अध्यापक भी क्षत्रिय थे। ऐसे अध्यापकों में एक थे सुग्रीव सिंह, जो हाल ही में गोरखपुर विश्वविद्यालय से बी.ए. पास कर अध्यापक बने थे। वे हिन्दी पढ़ाते थे और वे मुझे खूब प्रोत्साहित करते थे। जो लड़के मुझसे चिढ़ते, उनके बारे में वे कहते : “इन

लंठवन से मत डरिहा, इनकर ठकुरई ना चली।” शीघ्र ही सुग्रीव सिंह मेरे संरक्षक जैसे बन गये। दसवीं कक्षा में समय ज्यों ज्यों बीतता जाता, चिन्ता उतनी ही ज्यादा बढ़ती जाती थी, क्योंकि उन दिनों हाई स्कूल की परीक्षा का रिजल्ट बहुत बुरा होता था। मुश्किल से 35 प्रतिशत छात्र पास हुआ करते थे। इस संकट के दौरान मेरी कक्षा के एक छात्र चिन्तामणि सिंह मेरे लिए एक बहुत बड़ी राहत के रूप में प्रस्तुत हुए। वे प्रायमरी स्कूल में प्रधानाध्यापक परसुराम सिंह के सगे भतीजे थे, जो जिगरसंडी गांव के 22 जोड़ी बैलों वाले बड़े जमींदार थे। चिन्तामणि सिंह पढ़ाई लिखाई में बहुत कमजोर थे, जिसका एक बड़ा कारण था उनका मिरगी यानि मृगी रोग से पीड़ित होना। वे समय समय पर कक्षा में ही बेहोश होकर गिर जाते थे। वे मुझे हमेशा अपने पास बैठते और कहते कि ज्यों ही उन्हें मिरगी का दौरा पड़ने की शुरुआत हो, मैं तुरंत उन्हें पकड़ कर जोर जोर से हिला दूं। ऐसा करने से बेहोशी समाप्त हो जाती थी। मैं हमेशा वैसा ही करता था। चिन्तामणि के पिता लक्ष्मी नारायण सिंह एक बहुत नामी वैद्य थे जो स्वयं उनका उपचार करते थे। चिन्तामणि सिंह मेरे घर की परिस्थिति से पूरी तरह परिचित थे। वे मुझसे कहते कि कक्षा में जो कुछ पढ़ाया जाये, मैं उसे खाली समय में उन्हें संक्षेप में समझा दिया करूं। मैं वैसा ही करने लगा। छुट्टियों के दिन वे अपने घोड़े पर चढ़ कर मेरे घर आ जाते थे। उनके घर में एक अत्यंत उम्दा किस्म का सफेद घोड़ा पाला जाता था, जिसकी चर्चा उस पूरे क्षेत्र में हुआ करती थी। वे जब भी घोड़ा लेकर आते, दलित बस्ती के हर उम्र के लोगों की भीड़ उसे देखने के लिए उमड़ पड़ती थी। ऐसे ही मेरे एक अन्य सहपाठी महेन्द्र सिंह थे, जो मेरे गांव से करीब छः किलोमीटर दूर पश्चिम में स्थित चक्रपानपुर के रहने वाले थे। महेन्द्र सिंह के घर में हाथी पाला जाता था। वे भी कभी कभी अपने महावत के साथ हाथी पर बैठ कर मुर्दाहिया के जंगल स्थित पीपल तथा बरगद की डालियां काट कर ले जाने के लिए हमारे गांव आते थे। पत्ते समेत इन डालियों को हाथी बड़े चाव से खाते थे। महेन्द्र सिंह अपने गांव लौटते हुए हाथी पर बैठे बैठे मेरे घर के सामने आ जाते और मुझसे मिल कर वापस जाते। इन दो बड़े हाथी घोड़े वाले जमींदारों के लड़कों के चलते दलित बस्ती में मेरी इज्जत काफी बढ़ गयी थी, किन्तु घर वालों की निगाह में आवारागर्द हो गया था। ऐसे ही एक रविवार के दिन चिन्तामणि सिंह मेरे घर आये। मैं उस दिन सुदेस्सर पांडे के खेत को जौ की बोवाई के बाद समतल करने के लिए हेंगा चलाने गया था। साथ में पिता जी भी थे। घर पर मेरी अनुपस्थिति के दौरान नगगर चाचा ने मेरे लिए अनेक अपशब्दों का प्रयोग करते हुए उन्हें बताया कि मैं सुदेस्सर पांडे के खेत पर गया हूं। चिन्तामणि सिंह अपना घोड़ा लिए पृछते हुए सुदेस्सर पांडे के खेत पर आ गये। उस दिन वे बहुत द्रवित हो गये थे। वे मुझे लेकर मेरे घर के दक्षिण में स्थित गुदिया नामक सीवान के पास कुएं पर बैठ कर बड़ी देर तक बात करते रहे। वहीं उन्होंने मुझसे कहा कि मैं रोज शाम को उनके गांव जाकर रात में टिक कर उन्हें पढ़ाऊं तथा रात का खाना उनके घर में ही खा लिया करूं। यह एक ऐसा प्रस्ताव था जिसे सुन कर मैं एकदम आश्चर्यचकित रह गया, किन्तु मेरी खुशियों का ठिकाना नहीं था। मैं घर के जंजाल से छुटकारा पाना चाहता था। साथ ही इस बात की भी खुशी थी कि अब मेरी मां को रात में अधपेटवा खाना से कुछ राहत मिल जायेगी। उन्हीं दिनों स्कूल के मंदिर पर दशहरे का मेला लगा हुआ था। परम्परा के अनुसार इलाके के कई जमींदार अपने हाथी घोड़ों के साथ मेले की दौड़ में हिस्सा लेते थे। चिन्तामणि सिंह के चाचा बहुत अच्छे गुड़सवार थे। उस मेले में वे अपने घोड़े को हवा की तरह उड़ाये थे। इसी मेले के दूसरे दिन से मैं रोज शाम को करीब डेढ़ घंटे पैदल चल कर चिन्तामणि सिंह के गांव जिगरसंडी चला जाता था। उनका एक बहुत बड़ा मकान था, जिसके बगल में एक बहुत लम्बा चौड़ा अलग से बरामदा था, जिसमें उनके बाइस जोड़ी बैल बांधे जाते थे। उसी बरामदे से सटे तीन चार कमरे थे। एक कमरे में उनका घोड़ा बंधा रहता था। एक अन्य कमरे में रात में उनके दो दलित मजदूर सोते थे, जो बैलों की देखभाल के लिए रखे गये थे। रात में चिन्तामणि सिंह अपने घर में से खाना लाकर एक मजदूर की थाली में डाल देते थे। मैं जब खा लेता

था, तो वे मजदूरों को खिलाते थे। रात में वे मुझे इतना ज्यादा खिला देते थे कि सुबह कुछ भी खाने का मन नहीं करता था। रात का खाना खाने के बाद वहीं एक कमरे में कुर्सी टेबल रखा गया था जिस पर बैठ कर मैं चिन्तामणि सिंह को पढ़ाया करता था। मैं जब भी पढ़ाना शुरू करता, वे थोड़ी देर बाद ऊंधने लगते थे। मैं उन्हें जगा जगा कर पढ़ने पर मजबूर करता। वे देर रात बाद सोने के लिए अपने घर के अंदर चले जाते थे, और मैं उन्हीं मजदूरों के कमरे में सो जाता था। सबेरा होते ही मैं अपने गांव वापस आ जाता था। इसके बाद मैं स्कूल जाता था।

वे गणित, रेखागणित तथा अंग्रेजी में बहुत कमजोर थे। वैसे मैं हाई स्कूल में निर्धारित पांचों विषयों को बार बार से उन्हें रोज पढ़ाता था, किन्तु उक्त तीनों विषयों पर विशेष ध्यान देता था, क्योंकि उन दिनों सबसे ज्यादा छात्र इन्हीं विषयों में फेल हो जाते थे। रात में पढ़ाते समय सबसे रोचक बात यह होती थी कि बगल में बंधा उनका घोड़ा बीच बीच में हिनहिना उठता था, जिसे सुन कर मेरा पूरा ध्यान घुड़सवार होकर घर से भागते हुए गौतम बुद्ध की तरफ चला जाता था तथा कुछ समय के लिए मैं एक गम्भीर दार्शनिक सोच में तल्लीन हो जाता था। घर से भागने की कल्पना बार बार जाग्रत हो जाती थी। स्वतःस्फूर्त ढंग से यह विचार भी उत्पन्न होता रहता था कि चिन्तामणि सिंह का घोड़ा चुराऊं और उस पर बैठ कर बुद्ध की तरह भाग जाऊं। ऐसा सोचते सोचते मैं एकदम गम्भीर हो जाता था। ऐसा देख कर चिन्तामणि सिंह बार बार गम्भीरता का कारण पूछते। मैं उन्हें हर बार बहका देता और कहता कि कोई कारण नहीं है। इसी तरह चिन्तामणि सिंह के घर पर एक अन्य दृश्य मुझे बहुत आकर्षक लगता था। उनके बाइस जोड़ी बैल एक कतार में गड़ी हौदियों में एक साथ चारा खाते हुए बड़ा मोहक दृश्य पैदा कर देते थे। उनके सारे बैल हृष्ट पुष्ट होते थे। आज जब मैं उनके बाइस जोड़ी बैलों को याद करता हूं, तो अचानक मेरे दिमाग में सुत्तपिटक में वर्णित प्राचीन कोसल क्षेत्र का वह ब्राह्मण याद आ जाता है, जो अपने चौदह बैलों की चोरी के चलते बहुत दुखित रहा करता था। एक बार उसके गांव के पास गौतम बुद्ध ठहरे हुए थे। किसी ने उस ब्राह्मण से कहा कि वह बुद्ध के पास चला जाये, तो उसका दुख समाप्त हो सकता है, क्योंकि बुद्ध दुखों पर विजय प्राप्त करके हमेशा सुखी रहते हैं। जब वह ब्राह्मण बुद्ध से मिलने जा रहा था, तो रास्ते में सोच सोच कर बड़बड़ाता जाता कि बुद्ध शायद इसलिए सुखी रहते होंगे क्योंकि उनके चौदह बैल चोरी नहीं हुए होंगे, या वे इसलिए सुखी होंगे क्योंकि उनके अन्नागार में चूहे व्यायाम नहीं करते होंगे, या वे इसलिए सुखी होंगे क्योंकि उनकी खटिया में उड़स यानि खटमल नहीं पड़े होंगे, या वे इसलिए सुखी होंगे, क्योंकि उनकी पत्नी रोज सुबह पाद प्रहार से उन्हें जगाती नहीं होगी, आदि, आदि।

इस तरह दिसम्बर सन् 1963 तक करीब तीन महीने तक मैं उन्हें पढ़ाने जिगरसंडी जाता रहा। उधर महीने में एक बार मंगरपुर वाले लालबहादुर सिंह अपना एकका लिए मेरे स्कूल पर अवश्य आ जाते थे और वहीं से मुझे लेकर बरहलगंज बाजार चले जाते थे। बरहलगंज बाजार में भी एक देशी शराबखाना था, जहां बैठ कर लोग देर रात तक शराब पीते रहते थे। उन दिनों ऐसे शराबखानों में दो प्रकार का मिट्टी का भरुका होता था। एक छोटा तथा दूसरा उससे दुगुना बड़ा। छोटे भरुके में आठ आने तथा बड़े में एक रुपये की शराब मिलती थी। इन भरुकों को लोग चुक्कड़ कहते थे। शराबखाने के सामने विभिन्न प्रकार के चिखनों के ठेले लगे रहते थे। चने की मसालेदार घुघरी, तली हुई कलेजी तथा मछली आदि को चिखना कहते थे। पहली बार शराब पीने की घटना से उत्पन्न परिस्थिति के कारण मैं बिल्कुल डरा हुआ रहता था, किन्तु न जाने क्यों, लालबहादुर सिंह की आत्मीयता के चलते मैं उन्हें मना नहीं कर पाता था और हमेशा उनके साथ चल देता था। मैं उनसे विनती करता कि बड़ा चुक्कड़ नहीं पी पाऊंगा इसलिए वे मेरे लिए छोटा तथा अपने लिए बड़ा चुक्कड़ लाते। विभिन्न चिखनों के साथ मैं दो छोटे चुक्कड़ पीता, किन्तु लाल बहादुर सिंह चार बड़े चुक्कड़ पी जाते थे। इस तरह वे मुझे खिलाने पिलाने में खूब खर्च करते। वे जब भी मुझे बरहलगंज के शराबखाने में ले जाते मैं वहीं

से सीधे चिन्तामणि के गांव चला जाता था। ऐसे अवसरों पर वे मुझे रात का खाना खिला कर सो जाने के लिए कह देते थे। 'बेहने पढ़ल जाई', यह कह कर वे स्वयं सोने चले जाते थे। चिन्तामणि सिंह का जिक्र होते ही मेरी मां शंकर भगवान की प्रार्थना करते हुए उनकी मिरगी ठीक हो जाने की गुहार लगाती रहती थी। सन् 1964 का नया साल आने वाला था और आगामी मार्च में दसवीं कक्षा की फाइनल परीक्षा होने वाली थी। मुश्किल से दो महीना बाकी था। इसलिए चिन्तामणि सिंह की चिन्ता हद से ज्यादा बढ़ गयी थी। उन्होंने एक नया सुझाव मेरे सामने रखा। जैसाकि हमने पहले बताया है कि हमारे स्कूल के पास वाले प्रायमरी स्कूल के प्रधानाध्यापक परसुराम सिंह उनके सगे चाचा थे, जो उनके संयुक्त परिवार में रहते थे। चिन्तामणि सिंह ने मुझसे कहा कि उनके गांव आने जाने में मुझे काफी समय लग जाता है, इसलिए उसी प्रायमरी स्कूल पर टिक कर रात में पढ़ाई की जाये। अतः वे अपने चाचा से रोज स्कूल बंद हो जाने के बाद चाबी ले लेते थे। उन्हीं के गांव के दो अन्य लड़के, तेजबहादुर सिंह तथा मोहम्मद हनीफ ने भी वहीं टिक कर मुझसे पढ़ने की इच्छा जाहिर की। चिन्तामणि सिंह का एक नौकर उनके घर से रोज शाम को चावल, दाल, आटा, सब्जी आदि लेकर प्रायमरी स्कूल पर आ जाता था तथा रात का खाना वहीं पका कर हम सबको खिलाता था। इस भोजन व्यवस्था के दौरान चिन्तामणि सिंह एक दिन अपने घर से बत्तीस साल पुराना चावल लाकर पकवाये। उस दिन उन्होंने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन किया कि उनके घर में तीन साल से कम पुराना चावल कभी नहीं खाया जाता। उन्होंने यह भी बताया कि एक परम्परा के अनुसार उनके घर में सन् 1932 से लेकर तब तक यानि 1964 तक हर साल के मनो मन चावल अलग अलग मिट्टी से बने बड़े बड़े कुंडों में रखे हुए हैं। उनकी सम्पन्नता का यह एक छोटा नमूना था, किन्तु उस बत्तीस साल पुराने चावल का स्वाद बड़ा कड़वा था जो सिर्फ मसालेदार सब्जी से ही खाया जा सकता था। जब मैंने अपनी मां को बताया कि चिन्तामणि सिंह ने मुझे बत्तीस साल पुराना चावल खिलाया तो उसकी प्रतिक्रिया थी : "येतना पुरान चाउर में त ढोला रेंगत होईहैं।" दसवीं के फाइनल इम्तहान से पहले दो महीने तक हम उसी प्रायमरी स्कूल पर रात में टिक कर पढ़ाई करते रहे, या यूँ कहें कि मैं पढ़ाता रहा और वे पढ़ते रहे। चिन्तामणि सिंह से दोस्ती से उत्पन्न शिक्षा के ये प्रकरण तब तक के मेरे जीवन के सर्वोत्तम क्षण थे। सबसे ज्यादा मेरी मां यह सोच कर बहुत राहत महसूस करती थी कि मुझे खाने के लिए अच्छे अच्छे व्यंजन मिल रहे थे। इस बीच मैं अपने घर का विषैला वातावरण लगभग भूल गया था। इस दौरान एक बड़ा संकट आया था। दसवीं के फाइनल इम्तहान के लिए फार्म भरे जा रहे थे। कुल 30 रुपये फीस जमा करना था। उन दिनों 30 रुपये एक बड़ी धनराशि थी। मेरी जैसी उस परिस्थिति में इतना धन उपलब्ध होना निश्चित रूप से एक बड़ा संकट था। घर से किसी तरह की सहायता पहले से ही बंद हो चुकी थी। मेरी दुर्दशा देख कर वही हिन्दी वाले अध्यापक सुग्रीव सिंह ने मेरे द्वारा बिना किसी आग्रह के स्वयं 30 रुपये फीस के रूप में जमा कर दिये। मुझे उन्होंने आश्वासन दिया कि और भी जरूरत पड़ने पर वे सहायता करते रहेंगे। स्कूल के एक अन्य अध्यापक रामबृक्ष सिंह जो पी.टी. मास्टर थे, ने भी सहायता की पेशकश की। स्कूल में उनकी ख्याति एक सुरीले गायक के रूप में थी। रामबृक्ष सिंह भी सुग्रीव सिंह की तरह मेरे साथ बड़े सम्मान से पेश आते थे। मैंने रामबृक्ष सिंह से कोई आर्थिक सहायता नहीं ली, किन्तु उस चिन्ताजनक संकट की घड़ी में ये दोनों अध्यापक मेरे लिए बहुत बड़े प्रेरणा के स्रोत सिद्ध हुए। परीक्षा का फार्म भरने के डेढ़ महीने बाद यू.पी. बोर्ड, इलाहाबाद से स्कूल पर सूचना आयी कि हमें परीक्षा देने चंडेसर डिग्री कालेज जाना पड़ेगा। यह कालेज हमारे स्कूल से लगभग 12 किलोमीटर दूर आजमगढ़ जाने वाली सड़क पर स्थित था। पांचों विषयों की परीक्षा का टाइम टेबुल पूरे महीने भर जारी रहने वाला था, जिसका अर्थ यह था कि वहाँ हमें एक महीना टिकना था। चंडेसर डिग्री कालेज के संस्थापक भी एक साधु चंद्रबली सिंह 'ब्रह्मचारी' थे। इस कालेज में भी क्षत्रियों का बोलबाला था तथा यह मारपीट के लिए कुख्यात था। यह कालेज बहुत विशाल था,

जहां करीब दर्जनभर हाई स्कूलों के परीक्षा केन्द्र हुआ करते थे। उन दिनों चंडेसर परीक्षा केन्द्र पर दलित परीक्षार्थियों में से अनेक जातीय हिंसा के शिकार हो जाते थे। कालेज प्रशासन द्वारा ऐसी हिंसा को रोकने के दौरान स्थिति काफी तनावपूर्ण हो जाती थी। अनेक स्कूलों से जो छात्र यहां परीक्षा देने आते थे, वे अपने ही स्कूल के दलित छात्रों को अकारण पीट दिया करते थे, जिसके चलते कई छात्र गम्भीर चोट लग जाने के कारण परीक्षा से वंचित हो जाते थे। परीक्षा शुरू होने के एक सप्ताह पूर्व चिन्तामणि सिंह मुझे अपनी साइकिल पर बैठा कर चंडेसर ले गये, ताकि कहीं रुकने की व्यवस्था की जा सके। कालेज के पास एक छोटा सा बाजार था, जिसमें चिन्तामणि सिंह ने अपने लिए एक कमरा किराये पर लिया, जिसका पूरे एक महीने का किराया पांच रुपये था। चिन्तामणि सिंह मुझे अपने साथ रखना चाहते थे, किन्तु मकान मालिक ने पहले ही साफ कह दिया था कि किसी 'चमार सियार' को नहीं रहने दिया जायेगा। मकान मालिक की इस शर्त से चिन्तामणि सिंह बहुत परेशानी में पड़ गये थे, किन्तु इसके निवारण का कोई अन्य उपाय नहीं था। अतः अपने मंगरपुर वाले तांत्रिक रिश्तेदार के बेटे दीपचंद जो चंडेसर के हाई स्कूल के छात्र थे, से मिल कर मैंने मकान संकट के बारे में बात की। दीपचंद स्वयं चंडेसर से करीब एक किलोमीटर पश्चिम घरवारे मोड़ पर एक दलित के घर में दो अन्य छात्रों के साथ रहते थे। वे मुझे चंडेसर कालेज के दक्षिण में स्थित दलित बस्ती में ले गये। यह बस्ती काफी विशाल थी, जिसमें कई सम्पन्न परिवार रहते थे। ऐसे ही एक परिवार के मालिक थे रूप राम। वह मुफ्त में मुझे पूरी परीक्षा के दौरान अपने घर में रखने पर राजी हो गये। रूप राम परीक्षा के दौरान दलित छात्रों की समस्या से पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने बताया कि पिछले साल यानि 1963 की परीक्षा के दौरान उनकी बस्ती में रह रहे चार परीक्षार्थियों पर रास्ते में ही उन्हीं के स्कूल के सवर्ण छात्रों ने हाकी से हमला करके बुरी तरह घायल कर दिया था। यद्यपि मेरी किसी से दुश्मनी नहीं थी, किन्तु तत्कालीन वातावरण से मैं काफी भयभीत हो गया था। रहने का इंतजाम हो जाने के बाद मैं चिन्तामणि सिंह के साथ घर वापस चला आया। हमारी परीक्षा चार मार्च 1964 को शुरू होने वाली थी। अतः हमें दो दिन पहले परीक्षास्थल पर पहुंचना था, जिसके लिए मुझे पूरे एक महीने के राशन पानी का इंतजाम करना था। मेरे घर का पूरा वृहद संयुक्त परिवार मेरे खिलाफ असहयोग पर उतारू था। मेरी मां दस पंद्रह दिन तक सुदेस्सर पांडे के यहां किये गये काम के बदले मिलने वाली बनि उन्हीं के घर छोड़ रखी थी, ताकि वह इन्तहानस्थल पर मेरे खानपान के काम आ सके। बनि में मिले जौ को लाकर मेरी मां ने जाता में पीस कर आटा मुझे चंडेसर ले जाने के लिए दिया। साथ में कुछ मटर की दाल तथा लोटा भी था। पिता जी ने सुदेस्सर पांडे से दस रुपया उधार मांग कर बाकी खर्च के लिए दिया। इसी पूंजी के साथ गठरी मोटरी लिए मैं जहांनागंज तक पैदल जाकर वहां से आठ आना किराया देकर एक्के द्वारा दो दिन पहले चंडेसर पहुंचा। जिस एक्के से मैं चंडेसर जा रहा था, उसका एक्केवान घोड़े को चाबुक से मारता कम किन्तु गालियां बहुत ज्यादा देता था। उसके अंदर मेरे नग्गर चाचा की छवि एकदम साकार हो उठी थी। उस दिन करीब पौन घंटे के सफर में वह घोड़ा सैकड़ों गालियों से नवाजा गया। एक्केवान के व्यवहार से मैं सहम गया था। ऐसा लगता था कि मानो वे सारी गालियां मुझे पड़ रही थीं। चंडेसर पहुंचने के बाद एक्का से उतर कर मैं करीब एक किलोमीटर दक्षिण स्थित दलित बस्ती में रूप राम के घर पहुंचा। उनके घर एक अन्य स्कूल का छात्र दर्शन भी रहने आया था। हम दोनों अपना खाना उनके घर के सामने ईट के चूल्हे पर लकड़ी जला कर बना लेते थे। चार मार्च को अंग्रेजी की परीक्षा होने वाली थी। चिन्तामणि सिंह ने परीक्षा के एक दिन पूर्व शाम को मुझे अपने निवास पर बुलाया था, ताकि मैं परीक्षा की तैयारी करा सकूं। मैं निर्धारित समय पर उनके निवास पर गया तो देखा कि पहले से ही तेजबहादुर तथा मोहम्मद हनीफ वहां मौजूद थे। किन्तु सबसे चौंकाने वाली उपस्थिति थी हीरालाल की जो मुझे बात की बात में गालियां दे पड़ते थे। मुझे देखते ही हीरालाल ने कहा : "का रे चमरा तं येहों आ गइले।" इस पर मैंने उनसे कहा कि आप मुझसे इस तरह क्यों

बात करते हैं? मेरा इतना कहना था कि हीरालाल मेरे ऊपर शेर की तरह झपट पड़े और जब तक चिन्तामणि सिंह उन्हें पकड़ें, वे तब तक मुझे चार चांटे लगा चुके थे। ये वही हीरालाल थे, जो मुझे बुलाने के लिए हमेशा 'चमरा चमरा' शब्द का इस्तेमाल किया करते थे। चिन्तामणि के निवास से जाने के पहले उन्होंने मुझे यह कह कर धमकाया कि 'देखत हई तू कइसे इम्तिहान दे ला'। हीरालाल के व्यवहार से मैं बहुत डर गया था। उस समय जातीय हिंसा के लिए कुख्यात चंडेसर मेरे लिए साकार हो उठा। इस घटना से मैं इतना आहत हुआ कि चिन्तामणि के लिए इम्तहान की पूर्वसंध्या पर कोई तैयारी नहीं करवा सका। बड़े दुखित मन से मैं आंसू बहाते हुए रूप राम के घर वापस आ गया। मुझे अत्यंत परेशान देख कर वे कारण पूछने लगे। हिचकते हुए मैंने घटना बयान कर दी। वैसा सुनते ही रूप राम उठ कर खड़े हो गये और पास पड़ोस के लोगों को बुलाने लगे। वे कहते रहे कि अभी बस्ती से दस पंद्रह आदमी लाठी भाला लेकर चलते हैं और उसका हाथ पैर तोड़ कर वापस आ जाते हैं। 'बिरादरी के लइकवन के ई गुंडवा हर साल पीटि देलैं, येप्पर रोक लगै के चाही', ऐसा कहते हुए रूप राम अपने घर के अंदर चले गये और लाठी में लगे एक नुकीले भाले के साथ बाहर आ गये। उस दिन रूप राम का रूप देखते ही बनता था। वे अत्यंत उत्तेजित थे। यद्यपि वे मेरे लिए बिल्कुल नये थे, किन्तु दलित समुदाय के प्रति उनकी एकजुटता बेजोड़ थी। यदि मैं रूप राम की उत्तेजना का जरा भी शिकार हो जाता, तो उस दिन हीरालाल की खैर नहीं थी। मैं बार बार यही सोचने लगा कि यहां तो रूप राम सबसे निपट लेंगे, किन्तु जब वापस गांव चला जाऊंगा तो फिर क्या होगा? इसलिए मैंने रूप राम को जैसे तैसे शांत किया। मैंने जब उनसे यह कहा कि यदि हम हिंसक लफड़े में फंस गये तो शायद हाई स्कूल की परीक्षा ठीक से नहीं दे सकेंगे और सब कुछ चौपट हो जायेगा। मेरी इस बात से सहमत होकर उन्होंने मारपीट वाला अपना इरादा छोड़ दिया। किन्तु जिस जिस दिन हमारी परीक्षा होती, रूप राम हमेशा चार पांच लठैतों के साथ हमें परीक्षास्थल तक पहुंचा कर वापस आ जाते थे। तथा तीन घंटे बाद वे पुनः परीक्षास्थल से हमें अपने घर लाते थे। इस तरह चंडेसर के उस अपरिचित वातावरण में रूप राम मेरे लिए एक विश्वस्त संरक्षक सिद्ध हुए। सबसे ज्यादा डर परीक्षा के अंतिम दिन यानि 28 मार्च 1964 को था, क्योंकि अंतिम दिन की परीक्षा के बाद हिंसक गतिविधियां काफी बढ़ जाती थीं। उस दिन हमारी अर्थशास्त्र की परीक्षा थी, जो दोपहर बाद होने वाली थी। पूरी परीक्षा के समय रूप राम अपने दल बल के साथ चंडेसर कालेज के बाहर सड़क पर विद्यमान रहे। पांच बजे परीक्षा समाप्त होते ही, वे मुझे लेकर अपने घर आये। वास्तव में मैं हीरालाल के व्यवहार से मनोवैज्ञानिक स्तर पर बहुत भयभीत हो गया था। यह भय इतना ज्यादा खतरनाक था कि मैंने डर के मारे परीक्षा के दौरान चिन्तामणि सिंह के निवास पर उन्हें इम्तहान की तैयारी में मदद करने से एकदम मना कर दिया। इसका एक कारण यह भी था कि हीरालाल चिन्तामणि सिंह के निवास से थोड़ी दूर पर ही रहते थे। सबसे ज्यादा डर इस बात का था कि यदि अपने खिलाफ जातीय हिंसा के चलते कोई पेपर छूट गया तो भविष्य की सारी योजनाएं धरी की धरी रह जायेंगी। चंडेसर के एक महीने के प्रवास के दौरान मैं गौतम बुद्ध और हीरालाल के बीच किसी सर्कस के झूलानट की तरह इधर से उधर उछलता रहा। अंतिम परीक्षा के बाद मैं 29 मार्च 1964 को चंडेसर से वापस अपने गांव धरमपुर लौट आया। मैं पहली बार इतने लम्बे समय तक घर से बाहर रहा। मेरी मां और दादी मेरी अनुपस्थिति में बहुत चिन्तित रहीं। अतः घर वापस आने पर सबसे ज्यादा खुशी इन्हीं दोनों को हुई। इस इम्तहान के बाद पूरे तीन महीने की छुट्टियां थीं, किन्तु भविष्य पूर्णतः अनिश्चित। बड़ी बेकरारी से परीक्षाफल का इंतजार होने लगा था, जो मध्य जून के आसपास निकलने वाला था। सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की थी कि दसवीं के बाद पढ़ाई की कोई आशा नहीं थी। क्योंकि हमारी करियात में कोई इण्टर कालेज नहीं था, जिसका मतलब यह था कि सिर्फ चंडेसर या आजमगढ़ में टिक कर पढ़ना सम्भव हो सकता था। कुल मिला कर यह सब कुछ मेरे लिए असम्भव था। यही चिन्ता मुझे खाये जा रही थी। इस

लम्बी छुट्टी के दौरान पिता जी ने एक बार फिर मुझे सुदेस्सर पाड़े के खलिहान में दंवरी में लगा दिया। साथ ही साथ उनका रहट भी हांकना पड़ता था। बीच बीच में दलित बस्ती की आती जाती बारातों में शास्त्रार्थ के लिए मेरी खूब मांग होती रहती थी। ऐसी ही एक बारात हमारी बस्ती से करीब दस किलोमीटर दूर मंदे नामक गांव में गयी थी। वहां मेरे चचेरे चाचा बीसू के बेटे जगलू की शादी होने वाली थी। मजलिस के दौरान शास्त्रार्थ शुरू हो गया। घराती पक्ष ने अपने को हारता पाकर खीझवश लाठियां निकाल लीया। परिणामस्वरूप दोनों पक्ष लड़ाई के लिए आमने सामने खड़े हो गये। मेरे गुस्सेल नग्गर चाचा ने चिल्ला कर बारातियों से कहा कि वे घरातियों पर हमला बोल दें। अंततोगत्वा मंदे गांव के कुछ बुजुर्गों ने हाथ जोड़ कर सबको शांत किया। किन्तु बाराती नग्गर चाचा के नेतृत्व में बिना खाये पीये अपने गांव वापस चल दिये। अभी हम सब मंदे गांव से बाहर पहुंचे ही थे कि घराती पक्ष के लोग दौड़ते हुए आये और बारातियों के पैरों पर गिरना शुरू कर दिये। बारात वापस लौटने पर राजी तो हो गयी किन्तु नग्गर चाचा ने शर्त पेश कर दी कि घराती पक्ष सुअर भात खिलावे। इसी शर्त पर बारात मंदे वापस गयी और घर वालों को सुअर भात का इंतजाम करना पड़ा। उस दिन दोपहर का खाना हम सभी देर शाम को खाकर अपने गांव रात में वापस आये थे। मंदे की घटना से गांव में मैं बहुत सम्मानित हुआ था। विशेष रूप से जब नग्गर चाचा खुश होते थे, तो मुझे लगता था कि अब भविष्य में पढ़ने वाली समस्या हल हो जायेगी। क्योंकि घर में उनकी ही मर्जी से सब कुछ होता था। इस बीच जिस दिन सुदेस्सर पाड़े के यहां काम नहीं होता, उस दिन मैं गाय भैसों को लेकर मुर्दहिया पर चराने चला जाता था। इसी तरह छुट्टियों के दिन बीतते रहे। एक ऐसा ही दिन था 27 मई 1964 का। मुन्नर चाचा गांजा लेने अमठा गये थे। वापस घर आने पर उन्होंने बस्ती में सबको बताना शुरू कर दिया कि उन्हें अमठा के ठाकुरों से पता चला कि नेहरू जी इस दुनिया में नहीं रहे। नेहरू जी की मौत पर सबसे ज्यादा अविश्वास मुझे हुआ। मुझे ऐसा लगता था कि नेहरू जैसा बड़ा आदमी कैसे मर सकता था? उन दिनों हमारे पूरे गांव, यहां तक कि आसपास के किसी गांव में किसी के भी पास रेडियो या ट्रांजिस्टर नहीं था। अखबार की कल्पना तो बिल्कुल असम्भव थी। अतः सूचना का कोई साधन न होने से अटकलबाजियों का बाजार गर्म था, किन्तु शाम होते होते चारों तरफ गांवों यह खबर फैल गयी। व्यक्तिगत रूप से मैं नेहरू जी की मृत्यु से बहुत दुखित हुआ था। उस दिन गांव के कई ब्राह्मणों ने रात का खाना नहीं खाया। सात साल पूर्व 1957 के आम चुनावों के दौरान कौड़ा तापते मुन्नर चाचा द्वारा नेहरू के बारे में बतायी गयी वे बातें कि वे रूस से सीख कर 'समोही' खेती, चकबट के बाद हकबट तथा योजना आदि लागू करेंगे, मुझे बार बार याद आती रही। इस बीच हाई स्कूल के परीक्षाफल के निकलने का दिन नजदीक आ रहा था, जिसके कारण मानसिक तनाव अपनी चरम सीमा पर था। उन दिनों परीक्षाफल देखने आजमगढ़ जाना पड़ता था, क्योंकि परीक्षाफल सैकड़ों पन्नों का मोटा गजट होता था, जिसमें नाम तथा रोल नम्बर दोनों होता था। ऐसा गजट शहर के कुछ अखबार विक्रेता खरीद कर अपने पास रोडवेज स्टेशन जैसे सार्वजनिक स्थानों पर रख कर एक एक छात्र से आठ आना लेकर परीक्षाफल दिखाते थे। इस संदर्भ में एक अफवाह उड़ी कि 6 जून 1964 को परिणाम आने वाला है। मेरे जैसे तमाम छात्र भागे भागे जहांनागंज पहुंचे। वहां आजमगढ़ से आने वाले हर एक एककासवार पैसेंजरो से हम सभी पूछते रहे कि परीक्षाफल आया है कि नहीं? नकारात्मक उत्तर पाकर हमें बड़ी निराशा होती थी। इस तरह 6 जून से लेकर लगभग दो सप्ताह तक हम प्रतिदिन जहांनागंज जाते रहे और शाम तक वहीं रह कर पैसेंजरो से नकारात्मक उत्तर पाते रहे। परीक्षाफल के इंतजार के दौरान जहांनागंज के एक विचित्र साधु छात्रों के लिए सबसे बड़े आकर्षण के केन्द्र बन गये थे। जहांनागंज बाजार तथा आजमगढ़ जाने वाली सड़क के बीच एक बागीचा था। वहीं एक पेड़ के नीचे साधु बाबा रहते थे। उनकी विशेषता यह थी कि वे पूर्णतः मौनव्रती थे, किन्तु सबसे ज्यादा हैरत में डालने वाली बात यह थी कि वे वर्षों से चौबीसों घंटे खड़े रहते थे। वे खड़े खड़े ही सोया करते थे।

वे दो नजदीक वाले पेड़ों में एक मोटा रस्सा बांध रखे थे। कभी कभी उसी रस्से पर अपना सिर लटका कर आराम कर लेते थे। कुछ पूछने पर वे एक स्लेट पर खड़िया से लिख कर उत्तर देते थे। हमेशा खड़े रहने के कारण लड़के उन्हें 'खड़खड़िया' बाबा कहते थे। मैं भी अन्य लड़कों के साथ खड़खड़िया बाबा के यहां चला जाता था और उनसे पास होने के लिए आशीर्वाद मांगता। बाबा लिख कर दिखाते कि हम पास हो जायेंगे। धीरे धीरे खड़खड़िया बाबा के यहां छात्रों की भारी भीड़ जमा होने लगी। अतः बाबा ने एक एक का उत्तर देने के बदले स्लेट पर यह लिख कर कि 'तुम सभी पास हो जाओगे' पेड़ पर टांग दिया। जाहिर है बाबा उत्तर लिखते लिखते ऊब गये थे। आखिरकार परीक्षाफल निकलने के एक दिन पहले जहांनागंज में आजमगढ़ से लौटते हुए एक छात्र ने बताया कि कल यानि 18 जून 1964 को परिणाम अवश्य ही प्रकाशित हो जायेगा। उस दिन मैं पड़ोस के गांव मठिया के कुबेर राम, जो प्राइमरी स्कूल के अध्यापक थे, से साइकिल लेकर परीक्षाफल देखने आजमगढ़ रवाना हो गया। अभी मैं चंडेसर तक पहुंचा था कि घनघोर बारिश होने लगी। चंडेसर के बाहरी हिस्से में सड़क पर दोनों तरफ अनेक पीपल के बड़े बड़े पेड़ थे। मैं बुरी तरह भीग गया था। वहीं एक पीपल की घनी छाया के नीचे मैं खड़ा होकर पानी बंद होने का इंतजार करने लगा। अचानक मैंने देखा कि हमारे स्कूल के सहपाठी कर्मवीर सिंह उल्टी दिशा यानि चंडेसर से आते दिखायी दिये। मुझे देख कर मेरे पास आकर उन्होंने अपनी साइकिल रोक दी और बोल पड़े : "तं कहां जात हउवे रे, तं त फस्ट आ गयल हउवे।" उन्होंने यह भी बताया कि चंडेसर कालेज के गेट पर एक आदमी आठ आना लेकर परीक्षाफल दिखा रहा है। वे तृतीय श्रेणी में पास हुए थे। मेरे साथ कर्मवीर सिंह पुनः चंडेसर कालेज चल पड़े। आठ आने देकर जब मैंने अपने स्कूल वाला पन्ना देखा तो सबसे ऊपर प्रथम श्रेणी की लिस्ट में मेरा अकेला नाम था। चार लड़के द्वितीय श्रेणी तथा आठ लड़के तृतीय श्रेणी में पास थे। यानि हमारे स्कूल के 46 लड़कों में सिर्फ 13 पास हुए थे। सबसे ज्यादा मुझे दुख हुआ था यह देख कर कि चिन्तामणि सिंह फेल हो गये थे। हीरालाल भी फेल थे। जहां तक मेरी अपनी अनुभूति का सवाल था, वह खुशी से कहीं ज्यादा आश्चर्य वाली थी। जिस परिस्थिति में मैंने इम्तहान दिया था, उसमें इस तरह के परिणाम की आशा बहुत कम थी। मेरा परिणाम इसलिए भी चौंकाने वाला था, क्योंकि बाबा हरिहर दास के उस स्कूल में पहले कोई भी छात्र प्रथम श्रेणी में पास नहीं हुआ था। इस स्कूल की स्थापना आजादी के तुरंत बाद हुई थी। चंडेसर से परीक्षाफल देखने के बाद वापस लौटते हुए उस पीपल के पेड़ के पास पुनः रुक कर मैंने उसकी जड़ों को प्रणाम किया जिसके नीचे कर्मवीर सिंह ने सबसे पहले परिणाम सुनाया था। उस वक्त मैं बहुत अंधविश्वासी हो गया था। ऐसा लगता था कि मानो बुद्ध की ही तरह पीपल के नीचे मुझे भी ज्ञान प्राप्त हो गया। उस समय मैं एक अजीब अनुभूति से गुजरा था। जहांनागंज पहुंच कर मैंने एक बार फिर 'खड़खड़िया' बाबा को प्रणाम करके उन्हें बताया कि मैं प्रथम श्रेणी में पास हो गया। उन्होंने स्लेट पर लिख कर दिखाया : "आगे भी।" जब वापस घर पहुंच कर मैंने परीक्षाफल बताया तो विशेष रूप से मेरी दादी को कुछ समझ में नहीं आया। मेरी समझ में भी कुछ नहीं आ रहा था कि दादी को कैसे समझाऊं। जब मैंने कहा कि पढ़ाई में सबसे आगे निकल गया तो वह बहुत खुश हुई। दूसरे दिन बाबा हरिहर दास स्वयं प्रिंसिपल धर्मदेव मिश्र के साथ मेरे घर बधाई देने आ गये। बाबा के घर आने की खबर चारों तरफ फैल गयी, जिसके परिणामस्वरूप उस पूरे क्षेत्र के सवर्णों में 'चमरा टाप कइलै' की ध्वनि गूंज उठी। मेरे गांव के अनेक ब्राह्मण भी घर आकर मेरी तारीफ करते नहीं थकते थे। किन्तु वे सभी पुनः यह बताना नहीं भूलते थे कि ज्यादा पढ़ने से लोग 'पागल' हो जाते हैं। ऐसा लगता था कि मेरे गांव के ब्राह्मण मुझे हर हाल में 'पागल' होने से बचा लेना चाहते थे। वे यह भी कहते कि अगर जगजीवन राम को पता चल जाये कि यह लड़का प्रथम श्रेणी में पास हो गया है, तो वे दो तीन हजार रुपये महीने की नौकरी तुरंत दिला देंगे। ब्राह्मणों के साथ साथ घर वाले भी मुझे पागल होने से बचाने पर एकदम उतारू

थे। ऊपर से दो तीन हजार रुपये की नौकरी की महत्वाकांक्षा से पूरा घर ही बेकरार हो गया था। प्रथम श्रेणी में मेरा पास होना ही मेरे लिए नयी दुर्गति लेकर आया। सन् 1964 में तो केन्द्रीय मंत्रियों का भी वेतन दो तीन हजार रुपये नहीं होता था, किन्तु मेरे गांव के ब्राह्मणों ने यह विशेष नया वेतनमान मेरे लिए न जाने कहां से निर्धारित कर रखा था? ब्राह्मणों की बातों से मेरे घर वाले पूरी तरह आश्वस्त हो गये थे। अतः आगे की पढ़ाई का रास्ता एकदम असम्भव हो गया। कुल मिला कर मेरे गृहत्याग की भूमिका बिल्कुल परिपक्व हो चुकी थी। बोधगया से लेकर मुर्दाहिया तथा चंडेसर तक के वे तमाम पीपल के पेड़ मेरी कल्पना में झूमने लगे थे। मन में यह विचार भी उठता कि दादी द्वारा भरुकी में भर कर सैंतीस 'बिस्टोरिया' गड़े चांदी के सिक्कों को चुरा कर घर से भाग जाऊं, किन्तु तुरंत यह सोच कर सहम जाता था कि ऐसा करना दादी के साथ बहुत बड़ा विश्वासघात होगा। वैसे मांगने पर दादी उन सिक्कों को मुझे अवश्य दे देती, किन्तु घर से कभी भागने नहीं देती, क्योंकि उसका सबसे बड़ा हथियार था रो रोकर प्रेम प्रदर्शन। इस तरह मेरे सामने सारे रास्ते बंद नजर आते थे। मेरे लिए सबसे ज्यादा दुख की बात यह थी कि चिन्तामणि फेल हो गये थे, अन्यथा उन्होंने मुझसे बहुत पहले कहा था कि हाई स्कूल पास करने के बाद हम एक ही कालेज में आजमगढ़ जाकर पढ़ेंगे तथा साथ ही रहेंगे। उनका यह भी कहना था कि वे अपने घर से हर माह दस बीस किलो चावल दाल आदि लाया करेंगे, जिससे हम दोनों के खाने पीने की व्यवस्था हो जायेगी। इसके बदले वे चाहते थे कि मैं उन्हें पढ़ाई में सहायता करता रहूं। किन्तु उनके फेल होने के साथ ही ये सारी योजनाएं धराशायी हो गयी थीं। मैं घबरा कर एक दिन के लिए अपने ननिहाल तरवां चला गया। मेरे चचेरे मामा राम खेलावन राम आजमगढ़ के प्रसिद्ध डी.ए.वी. कालेज में बी.ए. प्रथम वर्ष के छात्र थे। उन्होंने मुझसे कहा कि डी.ए.वी. कालेज में ग्यारहवें दर्जे में सिर्फ प्रथम श्रेणी के छात्रों को ही दाखिला दिया जाता है और हर दलित छात्र को सरकार की तरफ से सत्ताईस रुपया महीना वजीफा मिल जाता है, जिससे पढ़ाई का खर्चा चल जाता है। उन्होंने यह भी बताया कि आजमगढ़ के मातबरगंज मोहल्ले में लाल डिग्गी के पास एक सरकारी होस्टल है, जिसमें दलित लड़कों को मुफ्त में रहने दिया जाता है। राम खेलावन मामा उसी होस्टल में स्वयं रहते थे। उनके द्वारा दी गयी यह जानकारी मेरे लिए युगांतरकारी सिद्ध हुई। उन्होंने मुझे एक जुलाई 1964 को आजमगढ़ आकर उसी होस्टल में मिलने के लिए कहा। सबसे बड़ा संकट यह था कि उन दिनों जो वजीफा मिलता था, वह कम से कम छः महीने बाद। अतः शुरू के छः महीने का खर्च स्वयं उठाना था। इस बीच एक बार फिर संकटमोचक के रूप में मेरे सामने वही हिन्दी अध्यापक सुग्रीव सिंह प्रस्तुत हुए। उन्होंने मुझे फिर तीस रुपये दिया और कहा कि आजमगढ़ जाकर पढ़ाई जारी रखूं। इन तीस रुपयों के बारे में मैंने किसी को कुछ बताया नहीं। तीस जून 1964 की सुबह होते ही मेरा मस्तिष्क विभिन्न विचारों के हुजूम से भर उठा। गृहत्याग की इच्छा अपनी चरम सीमा पर थी। भविष्य में ज्ञान हासिल करने की कल्पना और मोहमयी ग्रामीण रिश्तों के बीच मैं बुरी तरह उलझ कर रह गया था। उस दिन मैं निरुद्देश्य अपने गांव के तीनों मोहल्लों को जोड़ने वाली पगडंडियों के आर पार गया और लौट कर वापस आया। इस दौरान ग्रामीण देवी 'चमरिया माई', ग्राम देवता 'डीह बाबा' तथा ब्राह्मणों के देवता 'बरम बाबा' आदि सबके सामने शीश नवा कर मैंने मनौतियों की भरमार कर दी थी। उन दिनों हमारे गांवों में बृहस्पतिवार तथा शनिवार को कहीं जाना होता था तो लोग उसे 'दिशासूल' कह कर अशुभ मानते थे। अतः दिशासूल मिटाने के लिए एक दिन पीछे वाली शाम को गमछे में थोड़ा सा सत्तू लेकर लोग अपनी राह चल देते थे। इसी दिशासूल को मिटाने के लिए मैंने भी इस टोटके का सहारा लिया। मेरी मां के पास एक छोटा सा बहुत पुराना बक्सा था, जिसे वह अपनी शादी के बाद तरवां गांव से लायी थी। इस बक्से को वह हमेशा अपनी खटिया के नीचे रखती थी, यद्यपि उसमें कोई सामान नहीं होता था। घर से भागने की पूर्व संध्या में मैंने रसोई के अंदर गगरी में रखे सत्तू में से दो मुट्ठी निकाल कर चुपके से एक चिथड़े में बांध कर मां के बक्से में रख

दिया तथा अंधेरा होते ही उस बक्से को सबकी नजर से बचाते हुए ले जाकर नटीनियां की झोपड़ी में यह कह कर रख दिया कि कल बरहलगंज बाजार से कुछ सामान लाना है, इसलिए आज दिशासूल मिटाने के लिए ऐसा कर रहा हूँ। इस बक्से की चोरी मैंने इसलिए की थी ताकि घर से भागने के बाद मैं उसमें आटा दाल आदि खाद्य सामग्री रख सकूँ। दूसरे दिन एक जुलाई 1964 की सुबह हमेशा की तरह उस 'बैसउर' में सोकर उठने के बाद मैंने गीता से पांच श्लोक पढ़े और कलकत्ता से भंडारी चाचा द्वारा लाये गये 'रामचरित मानस' को लेकर घर वालों की नजर से बचते हुए नटीनिया की झोपड़ी पहुंच गया। वहां रखे बक्से में रामचरित मानस, गीता तथा हाई स्कूल की मार्कशीट को मैंने बंद कर दिया। उसमें दो मुट्ठी सत्तू तो पहले से ही था। इन्हीं चोरी के सामानों के साथ बक्से को कांख में दबाये मैं आजमगढ़ की ओर चल पड़ा। अभी मैं मुश्किल से पचास कदम मुर्दहिया के बायें वाली पगडंडी पर चला था कि पीछे से दौड़ते हुए नटीनिया ने आवाज दी : "ओहर कहवां जात हउवे रे बाबू, तं तै बरहलगंज जाये खातिर टोटका कइले रहले।" जाहिर है बरहलगंज जाने के लिए मुर्दहिया के दायें वाली पगडंडी का सहारा लेना पड़ता था। जब मैंने कहा कि जहांनागंज के बाजार से सामान लाना है तो उसे एकदम विश्वास नहीं हुआ। वैसे मेरे पूरे गांव वालों को आभास हो चुका था कि अब मैं वहां ठहरने वाला नहीं था। अतः नटीनिया को भी ऐसा लगा कि मैं गांव छोड़ कर भाग रहा था। इसलिए उसने कई बार इस बात को दोहराया कि 'अब लउटि के ना अइबे का रे बाबू।' वह मुझे बायों में जितना उलझाती जाती, मैं उतना ही डरता जाता, क्योंकि आशंका थी कि किसी घर वाले ने देख लिया तो शायद भाग नहीं पाऊं। देर हो रही है, ऐसा कह कर मैं तेजी से आगे चल पड़ा। क्षण भर के लिए नटीनिया वहीं खड़ी रही और शायद मेरे द्वारा पढ़ाई गयी अंग्रेजी वह भूल गयी थी, इसलिए बोल पड़ी : "पिपरा पे गिधवा बइठल हउवे।" उसके द्वारा बके गये इस वाक्य ने मुझे यकायक विचलित कर दिया था। गिद्ध हमारी मुर्दहिया की अमूल्य निधि थे। किसी जीव का प्राण चाहे जैसे भी निकले, उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को हमेशा के लिए मिटा देने की क्षमता तो सिर्फ इन्हीं गिद्धों में थी।

उस जंगल में मैं जैसे जैसे आगे बढ़ रहा था, मुर्दहिया पीछे छूटती चली जा रही थी और साथ ही छूट रहे थे इस प्रियस्थली अनगिनत यादों के ढेर। गौतम बुद्ध के लिए जो स्थान था आप्रपाली का, सम्भवतः वही थी मेरे लिए नटीनिया। इन सबके बीच मेरे मस्तिष्क पर हावी हो गयी मेरी 'अशगुन' वाली छाया। चेचक से जिस दायीं आंख की रोशनी चली जाने के कारण लोग मुझे देख कर रास्ता बदल देते थे, उससे भी उतनी ही जलधारा फूट पड़ी थी जितनी कि रोशनी वाली आंख से। जंगल की निर्जनता का फायदा उठा कर मैं बेधड़क रुदन प्रक्रिया का शिकार हो गया। इस दौर से गुजरता हुआ, जब मैं गांव की सीवान भर्थैया की झील के पास पहुंचा तो यकायक इच्छा हुई कि गांव के जोगी बाबा का आशीर्वाद लेकर आगे बढ़ूँ। अतः उस घने जंगल में स्थित झोपड़ी की तरफ मैं मुड़ गया। कांख में दबा बक्सा मेरे सिर पर चढ़ चुका था। ऐसी ही आदर्श स्थिति में याद आते हैं सदाबहार क्रांतिकारी चे गुआरा जो मास्को से डाक्टरी की पढ़ाई पूरा करने के बाद क्रांतिकारी बने थे। क्यूबा की क्रांति के बाद जब वे फिडेल कास्त्रो का मंत्रिमंडल छोड़ कर लैटिन अमरीका के अन्य हिस्सों में क्रांति के उद्देश्य से चुपके से भाग रहे थे, तो उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था : "मेरे पैरों के पास दो बक्से थे। एक में दवाइयां भरी पड़ी थीं और दूसरे में हथियार। मैंने दवाइयां वाले बक्से को छोड़ दिया और हथियारों वाले बक्से को लेकर गन्ने की घनी फसलों के बीच से जंगल के लिए रवाना हो गया।" खैर उस समय मेरे अंदर न तो चे गुआरा जैसे विचार थे और न बक्से में हथियार। इस बीच जब मैंने जोगी बाबा को उनकी झोपड़ी के पास खड़ा देखा तो उनके पैरों पर गिरने से पहले मेरे मुंह से निकल पड़ा, 'बाबा'। इसके बाद जोगी बाबा ने गाया :

जइसन कहत बाड़ा बाबा।
 वइसन जइबा काशी काबा।।
 बड़ ससतिया सहबा राम।
 बड़ ससतिया सहबा राम।।

अगले अंक में जारी...